२००६ वि०

मूल्य ।)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।

श्रीगणेशाय नमः

रंग में भंग

लोक-शिक्षा के लिए अवतार जिसने था लिया,
निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका सर्व-मङ्गल-धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा-समेत प्रणाम है॥

जिस समय से इस कथा का है यहाँ वर्णन चला,
था अनल निधि गुण अवनि तब विक्रमी संवत्*भला।
उस समय से इस समय की कुछ दशा ही और है;
पलटता रहता समय संसार में सब ठौर है॥

* १३९३

वीर हामाजी नृपति जब स्वर्ग-वासी हो गये,
पुत्र तब उनके हुए वरसिंह बूँदी-नृप नये ।
अनुज नृप वरसिंह के थे लालसिंह महावली,
राजधानी रम्य उनकी हुई गैनोली स्थली ॥

प्रीति दोनों भाइयों में नित्य रहती थी बड़ी,
थी प्रजा सन्तुष्ट उनके सद्गुणों से हर घड़ी ।
प्राण रहते तक उन्होंने न्याय को छोड़ा नहीं,
और अपने धर्म का बन्धन कभी तोड़ा नहीं ॥

लालसिंह नरेन्द्र के सम्पूर्ण-सद्गुण-संयुता,
थी हिमाचल-नन्दिनी-सी एक अति प्यारी सुता ।
ज्यों अलौकिक रूप में थी वह विशेष प्रभावती,
थी विदित त्यों ही सुहृदया शील-मूर्त्ति, महामती ॥

जगमगाती एक अनुपम ज्योति धारण कर नई,
पाणिपीडन योग्य वह जब कुछ दिनों में हो गई ।
तब उसे जो वर मिला वह विदित वीर मनोज्ञ था,
योग्य से ही योग्य का सम्बन्ध होना योग्य था ॥

आज भी चित्तौर का सुन नाम कुछ जादू भरा,
चमक जाती चंचला-सी चित्त में करके त्वरा ।
नृप 'अरिमल्ल' नाम के जो थे वहाँ सीसोदिया,
अधिपति वरसिंह ने सम्बन्ध उनसे ही किया ॥

तब तुरन्त विवाह की होने लगीं तैयारियाँ,
और दोनों ओर शुभ गाने लगीं नव-नारियाँ ।
उन दिनों चित्तौर में भू-गर्भ से [illegible],
एक रमणी-रूप की प्रतिमा रुचिर पाई गई ॥

एक कर नीचा नवाये, एक ऊपर को किये,
एक कर सम्मुख बढ़ाये, एक ग्रीवा पर दिये।
चौभुजी वह मूर्ति मानों कह रही थी यों अभी—
हो खड़े, ऊँचे चढ़ो, आगे बढ़ो, देखो सभी ॥
शीघ्र ही लाई गई वह मूर्ति तब दरबार में,
देख कर उसको पड़े सब सभ्य हेतु-विचार में।
विविध विध होने लगी चर्चा उसीकी तब वहाँ,
देख अद्भुत वस्तु को बढ़ता न कौतूहल कहाँ?
भूप के सम्मुख सभा में मूर्ति रक्खी थी जहाँ,
राज-कवि बैठे हुए थे विज्ञ 'बारूजी' वहाँ।
देख कर उसको उन्होंने कर विचित्र विवेचना,
पद्य राना को सुनाया एक यों तत्क्षण बना—
"एक ऊँचा, एक नीचा, एक कर सम्मुख किये,
एक ग्रीवा पर धरे वह कह रही शोभा लिये—
स्वर्ग में, पाताल में, नृप, आप-सा दानी नहीं,
शीश मैं अपना कटाऊँ जो मिले कोई कहीं ॥"
श्रवण कर यह छन्द कवि का सब कुतूहल में पगे,
चतुरता उनकी तथा वर्णन सभी करने लगे।
उस समय सबके मुखों से 'धन्य' भाषण सुन पड़ा,
तनिक-से भी काम का मिलता बड़ों को यश बड़ा!
लग्न कन्या - पक्ष के जो लोग लाये थे वहाँ,
देख कवि की कुशलता वे भी हुए विस्मित महा।
और 'गैंनोली' गये जब तब कही यह भी कथा,
समय पर लघु बात भी जाती बखानी सर्वथा ॥

फिर बरात यथा समय सज कर चली चित्तौर से,
शीश राना का हुआ शोभित मनोहर मौर से।
विविध वस्त्राभूषणों से द्युति मिली अति देह को,
सज चला रसराज मानों छवि-वधू के गेह को॥

उस विशाल बरात का वैभव बताना व्यर्थ है,
जान सकते सब जिसे उसका जताना व्यर्थ है।
क्या बड़ों की विभव-वार्ता पूर्ण जा सकती कही?
बस यही कहना उचित है, त्रुटि न थी कोई रही॥

बैठ सुन्दर वाहनों पर, पहन पट-भूषण भले,
वर सहित अगणित बराती प्रेम पूर्वक यों चले—
बैठ चित्र-विचित्र चञ्चल जलधरों पर जगमगे,
चन्द्रयुत नक्षत्र मानों भू-भ्रमण करने लगे!

विपुल वाद्य-निनाद से आकाश जाता था फटा,
ऊँट, हय, हाथी, रथों की थी निराली ही छटा।
सब बराती थे नहीं फूले समाते गात में,
मुख्य हास-विलास ही होता विवाह-बरात में॥

वास करती हुई पथ में सर्व सुख पाती हुई,
दर्शकों को दिव्य अपना दृश्य दिखलाती हुई।
तीसरे दिन समय पर सकुशल विमुग्ध विनोद से,
पहुँच गेंनोली गई वह वर-बरात प्रमोद से॥

उचित अगवानी हुई तत्काल ही उसकी वहाँ,
गान-युत होने लगे मङ्गल विधान जहाँ तहाँ।
श्रेष्ठ जैसा चाहिए जनवास बतलाया गया,
था अपेक्षित जो जिसे सो सब वहाँ पाया गया॥

समय पर फिर कृत्य सब होने लगे उद्वाह के,
दृश्य दोनों ओर थे उत्सव तथा उत्साह के।
नेग, तोरण आदि के जब हो चुके पहले भले,
विधि-विहित तब सास वर को लेगई मण्डप तले॥

उधर दुलहिन की दशा थी उस समय कुछ भिन्न ही,
कह न सकते प्रकट उसको मुदित और न खिन्न ही।
योग्य पति की प्राप्ति का जितना उसे आनन्द था,
जनक-जननी के विरह का भय न उससे मन्द था॥

कर रही शृंगार थीं सखियाँ अनेक प्रकार से,
किन्तु उसका चित्त था परिपूर्ण सूक्ष्म-विचार से।
शान्तिमय गम्भीरता का एक अद्भुत भाव था,
देख उसको चित्त पर पड़ता अपूर्व प्रभाव था॥

हो चुका शृंगार जब पूरा यथोचित रीति से,
ले चलीं वर के निकट सखियाँ उसे तब प्रीति से।
ललित लज्जा-भार से ग्रीवा रुचिर नीची किये,
मन्द गति से वह गई अवलम्ब उन-सबका लिये॥

विप्रवर पढ़ने लगे तब वेदमन्त्र विधान से,
वर-वधू शोभित हुए एकत्र रूप-निधान से।
पद्मयुत-प्रकटित हुई हो पद्मिनी ज्यों अधखिली,
शौर्य से सम्पत्ति मानों नम्र होकर आ मिली॥

की गई प्रज्वलित तब जो हवन-वह्नि प्रभा-भरी,
वर-वधू के चित्त की प्रेमाग्नि ज्यों प्रकटी खरी।
एक साथ परिक्रमा दोनों उसे देने लगे,
भिन्नता कर भस्म मानों एकता लेने लगे॥

अब वधू का विश्व में सर्वस्व वर ही रह गया,
धर्म धारा में यथा संसार सारा वह गया।
सौंप अपने आपको यों पा लिया उसने सभी,
पुण्य-पद मिलता न कोई आत्म-दान विना कभी॥

दृश्य पाणि-ग्रहण का था नित्य होकर भी नया,
गह पसीजा-कर वधू का वर उसीका होगया।
उस समय सबके दृगों से प्रेम मय जलकण चुए,
इस अचल सम्बन्ध के सम्पूर्ण सुर साक्षी हुए॥

इस प्रकार विवाह-विधि सानन्द पूरी की गई,
दान और दहेज में सम्पत्ति समुचित दी गई।
अधिक वर्णन का यहाँ अवकाश दिखलाता नहीं,
गौण बातों पर किसी का ध्यान भी जाता नहीं॥

अस्तु जब आया विदा का दिवस करुणामय बड़ा,
शोक है, उस दिन भयङ्कर विघ्न एक हुआ खड़ा!
विघ्न क्या, कहना उचित है सर्वनाश उसे अहो!
श्रवण कर उस बात को होगा न दुःख किसे कहो?

जब सभा में सभ्य जन वर और कन्या-ओर के,
विविध वार्तालाप थे करते निहोर निहोर के।
और दोनों पक्ष का जब हर्ष था यों बढ़ रहा,
लालसिंह नृपाल ने तब सुकवि 'बारू' से कहा॥

"मूर्ति जो चित्तौर में थी मेदिनी-तल में पड़ी,
सुन कथा उसकी हमें होती कुतूहलता बड़ी।
और जो उसके विषय में 'गीति' तुमने थी गढ़ी,
प्रकट है उससे तुम्हारी काव्यशक्ति बढ़ी चढ़ी॥

"हर्ष है, तुमसे सुकवि हैं मान्य राना के यहाँ,
यह तुम्हारी योग्यता होगी नहीं स्वीकृत कहाँ?
किन्तु फिर भी खेद से कहना हमें पड़ता यहाँ—
काम अपने योग्य यह तुमने कदापि किया नहीं॥
"विज्ञ होकर भी अहो! तुमने भला यह क्या किया?
चाटुकारी में वृथा गौरव समस्त गमा दिया।
दुरुपयोग न योग्य है करना कभी यों शक्ति का,
चाटुकारों में न होता लेश भी प्रभु-भक्ति का॥
"सतत राज्य-प्रबन्ध के गुण-दोष जो निर्भय कहे,
क्यों न ऐसा सुकवि नृप को नित्य आवश्यक रहे?
किन्तु तुम जैसे सुकवि भी चाटुकार बने जहाँ,
है दुराशा भूप के कल्याण की आशा वहाँ॥
"-'स्वर्ग में, पाताल में, नृप! आप-सा दानी नहीं',
क्या कलङ्कित इस कथन से की गई वाणी नहीं?
कौन राना के गुणों की है नहीं कहता कथा?
किन्तु ऐसा कथन फिर भी गर्ह्य ही है सर्वथा॥
"कह न सकते यों किसी से एक ईश्वर के विना,
अद्वितीय मनुष्य जग में कौन जा सकता गिना?
एक से है एक उत्तम पुष्प इस संसार का,
पार मिलता है किसे प्रभु-सृष्टि-पारावार का!
"दीखते नर-रत्न ऐसे झोंपड़ों में भी कहाँ,
व्योम-चुम्बी राजगृह में जन्मते जैसे नहीं।
सद्गुणों पर है लगी मुद्रा न जाति-विशेष की,
की गई फिर क्यों अवज्ञा इस तरह अखिलेश की?

"सत्य ही क्या दूसरा दानी न राना-सा कहीं !
शीश भी मुझसे कहो तो दान में दे दूँ यहीं।
यदि इसी पर तुम न माँगो तो तुम्हें धिक्कार है,
माँगने पर मैं न दूँ तो धिक् मुझे सौ बार है॥
"मूर्ति तो पाषाण की है क्या कटे उसका गला !
है मृतक-सा जो स्वयं क्या मारना उसका भला ?
किन्तु झूठी बात थी तुमने कही दरबार में,
तैर जाओ सो तुम्हीं निज खड्ग की खर धार में॥"

भूप और न कह सके अब मौन होकर रह गये,
और अपने रोष की ज्वाला किसी विध सह गये।
किन्तु उनके, मद्य से कुछ कुछ अरुण लोचन बड़े,
लाल लाल हुए यथा दो लाल जलजों में जड़े॥

वचन सुन यों नृपति के कविराज लज्जित हो गये,
पड़ गये दृग दीन मानों कञ्ज हिम से धो गये।
प्रथम सोच विचार कर जो बात है कहता नहीं,
वह विना लज्जित हुए संसार में रहता नहीं॥

दमदमाती दीप्ति उनकी लुप्त सहसा हो गई,
पूर्ण प्रतिभा की प्रभा भी एक पल में खो गई।
अग्नि ज्यों आक्षेप का पड़ता विशेष प्रभाव है,
बाण से भी वचन का होता भयङ्कर घाव है॥

तब उन्होंने शीश अपना काट डाला आप ही !
मारता है बस मनुज को मानसिक सन्ताप ही।
मृत्यु ही गति दीखती गौरव-गमन के शोक में,
है मरण से भी बुरा अपमान होना लोक में॥

एक छोटी-सी रुधिर की उष्ण धारा बह गई,
और हाहाकार करती समिति विस्मित रह गई।
झटित खण्डित मुण्ड उनका भू-लुठित होने लगा,
शूल-मूलक भूल मानों धूल में धोने लगा॥

क्षुब्ध हो वर-पक्ष के सब लोग इस अपमान से,
जल उठे मानों वहाँ पर रोष के उत्थान से।
और लड़ने के लिए सब हो गये उठ कर खड़े,
ध्यान नित्य निजत्व का रखते सभी छोटे बड़े॥

यदपि नृप वरसिंह ने की शान्ति की चेष्टा बड़ी,
किन्तु जलती आग पर वह और आहुति-सी पड़ी।
मानते अपमान जब मानी न फिर कुछ मानते,
बात पर मरना हमेशा वीर जीना जानते॥

विवश कन्या-पक्ष के भी लोग तब लड़ने लगे,
रुण्ड-मुण्ड अनेक कट कर भूमि पर पड़ने लगे।
और की क्या बात है जो जनक भी अपना कहे,
तो कदापि लड़े बिना क्षत्रिय न उससे भी रहे॥

इस प्रकार विवाह में विग्रह खड़ा यह हो गया,
और रस में विष पड़ा हा! दुख जगा सुख सो गया!
क्षुद्र-सी भी बात पर होता अनर्थ बड़ा कहीं,
होनहार हुए बिना, कुछ क्यों न हो, रहती नहीं॥

दृश्य मेल-मिलाप का आनन्द देता था जहाँ,
अब कलह रूपी भयङ्कर मार काट मची वहाँ!
देख कर दुर्दैव की यह दुःखमय लीला यहाँ,
कौन कह सकता कि कब हो जाय क्या से क्या कहाँ॥

युद्ध को उद्यत हुए तत्काल राना भी वहीं ,
रोक सकता वीर को रमणी-स्मरण रण से नहीं ।
धन्य हो, तुम धन्य हो, शूराग्रणी सीसोदिया ,
प्राण रहते तक जिन्होंने वंशव्रत पालन किया ॥

जान जमाता बहुत वरसिंह ने रोका उन्हें ,
और शीतल दृष्टि से सप्रेम अवलोका उन्हें ,
किन्तु तत्क्षण ही उन्हें यह हो गया भासित वहाँ ,
एक बार बहा जहाँ फिर सिन्धु रुकता है कहाँ ?

अन्त में संग्राम में वीरत्व दिखला कर महा ,
वर-समेत वरातियों ने वीर-गति पाई वहाँ !
शूर कन्या-पक्ष के भी हत अनेक हुए तथा ,
हानि दोनों ओर की होती कलह में सर्वथा ॥

अन्य सेवक आदि जन वर-पक्ष के जो बच रहे ,
वचन नृप वरसिंह ने उनसे अभयदायक कहे ।
त्राण ही करते सदा शरणागतों का वीर हैं ,
प्रेम-वैर अयोग्य से रखते कदापि न धीर हैं ॥

था जहाँ पर हर्ष का आलोक उज्वल जगमगा ,
अब भयङ्कर शोक का ताण्डव वहाँ होने लगा ।
जानता था भङ्ग होना कौन यों रस रङ्ग का ?
ध्यान था किसको अहो ! इस सोचनीय प्रसङ्ग का ?

मित्र ! दुलहिन के विषय में अब कहो हम क्या कहें ?
और उसको देख कर हम मौन भी कैसे रहें ?
शब्द हैं ऐसे कहाँ जो यह विषय वर्णन करें ?
यह अपारार्णव करों से अब कहाँ तक हम तरें ?

वृत्त उस विधवा वधू का शोक-कारक है निरा,
फूलने पर पहुँचते ही वज्र वल्ली पर गिरा।
स्वप्न-सा संसार उसको हो गया सहसा सभी,
शत्रुओं को भी न दे भगवान ऐसा दुख कभी॥
नारियाँ रनवास में सब रो रही थीं शोक से,
किन्तु बैठी मौन थी वह भिन्न ही ज्यों लोक से।
ज्ञात होता था कि मानों मूर्ति रक्खी है वहाँ,
जल गया अन्तःकरण जब, फिर भला आँसू कहाँ॥
जब उसे सखियाँ वहाँ बहु भाँति समझाने लगीं,
दैव पर कुछ वश न कह कर धैर्य्य-गुण गाने लगीं।
जाग कर ज्यों तब अचानक वचन जो उसने कहे,
प्रकट करके भाव उसके गूँज वे अब भी रहे॥
"वाम होकर हर सकेगा सुख न मेरा दैव! तू,
हो भले ही विश्व में बाधक विशेष सदैव तू।
भूमि-सुख न सही, मिलेगा स्वर्ग-सुख मुझको अभी,
आर्य्य-कन्या का अहित कोई न कर सकता कभी॥"
वचन सुन इस भाँति उसके जान यह सबने लिया,
प्राणपति-शव-संग उसने भस्म होना स्थिर किया।
मच गई तब और भी सब ओर भारी खलबली,
पर न वह कोमलतनू अपने दृढ़-व्रत से टली।
शोक से चिर-संगिनी थीं रो रही सखियाँ सभी,
देखकर उसको सलिल से पूर्ण थीं अँखियाँ सभी।
तब जननि निकटस्थ उससे प्राथमिक दृग-जल बहा,
वाष्प-गद्गद कंठ से वरसिंह ने आकर कहा—

"भाल-लिपि मिटती नहीं, हे पुत्रि ! अब धीरज धरो ,
अनल में जल कर हमारा घर अँधेरा मत करो ।
नेत्र-तारा की तरह बूँदी रहो, अथवा यहाँ ,
भजन कर भगवान का दो दान जो चाहो जहाँ ॥"

भूप के इस कथन पर भी पूर्ववत् वह दृढ़ रही ,
प्रिय-विरह की यातना जाती कहो किससे सही ।
दिव्य तेजोमय वदन से यह गिरा उसने कही ;
ज्यों सुधा की शुद्ध धारा चन्द्र के द्वारा बही ॥

"तात के वात्सल्य का मुझको बड़ा अभिमान है ,
और मेरी भक्ति को भी जानता भगवान है ।
किन्तु अब इच्छा नहीं है, देह लालन की मुझे ,
तात ! आज्ञा दो दया कर धर्म-पालन की मुझे ॥"

वचन सुन इस भाँति उसके भूप फिर रोने लगे ,
अनुज-युत लोचन-सलिल से मलिन-मुख धोने लगे ।
देख वह यों विकल उनको वचन फिर कहने लगी ,
फिर निकल कर मानसर से सुरसरी बहने लगी—

"त्याग कर हे तात ! चिन्ता धैर्य्य धारण कीजिए ,
ध्यान मेरी धृष्टता पर इस समय मत दीजिए ।
विवश होकर वचन ऐसे हैं मुझे कहने पड़े ,
रह न सकते धीर जन भी इस दशा में स्थिर खड़े ॥

"प्राण रखने के लिए जो आप हैं कहते मुझे ?
किन्तु अब क्या सुख मिलेगा देह के रहते मुझे ?
फिर भला जी कर नरक के दुःख को सहना भला ?
या विनश्वर देह तज कर स्वर्ग में रहना भला ?

"भजन अव प्यारे पिता ! किसका करूँगी मैं यहाँ ?
इस विपुल संसार में आराध्य अब मेरा कहाँ ?
सेवनीय सदैव पति ही नारियों का ईश है,
अब न जीवन-भार दुर्द्धर धार सकता शीश है ॥
"यह चराचर विश्व अब मुझको अँधेरा होगया,
आपका सौंपा हुआ सर्वस्व मेरा खो गया।
फिर अँधेरे में रहूँ सर्वस्व खोकर मैं अहो !
या उसे पाकर सदा को स्वर्ग-सुख भोगूँ कहो ?
"तात ! अन्तःकरण मेरा जलगया है ताप से,
मैं महा हतभागनी हूँ पूर्वकालिक पाप से।
हो गई मेरे दृगों की दृष्टि आज अदृष्ट है,
हाय मेरा नष्ट जीवन कष्ट से आकृष्ट है ॥
"मरण एक न एक दिन तनुधारियों का सिद्ध है,
जन्म से ही मरण का सम्बन्ध लोक-प्रसिद्ध है।
किन्तु अवसर का मरण क्या सहज में मिलता कभी,
इसलिए अब हे पिता आज्ञा मुझे दीजे अभी ॥"
यों अनेक प्रकार उसने वचन बहुतेरे कहे,
कह सका कोई न कुछ सब हाय ! कर सुनते रहे,
फिर वही होकर रहा भवितव्य था जो अन्त में,
शान्ति-युक्त सती हुई वह कीर्ति छोड़ दिगन्त में ॥
धूम चारों ओर जिनके व्याह की कल थी मची,
आज उनके ही लिए, देखो, चिता जाती रची !
हो गई हैं स्वप्न की-सी आज वे बातें सभी,
सत्य ही दुर्दैव को करुणा नहीं आती कभी !!!

ग्रहण जो पति ने किया था कल अतीव उमङ्ग से,
और पीला आज भी जो था हरिद्रा-रङ्ग से।
वह उसी कर से स्वपति का शीश रख कर गोद में,
मिल गई चन्दन-चिता के ज्वाल-ज्वालामोद में!

'वह्नि से भी विरह का होता अधिक उत्ताप है',
उक्ति यह घटती यहाँ पर आप से ही आप है।
बात यह विख्यात जो जाती न अनुभव से कही,
तो अचल रह अनल में वह किस तरह जलती रही?

बात भी न अब तक जिससे थी हुई अनुराग में,
यों उसीके साथ जीवित जल गई वह आग में।
आर्य्य-कन्या मान लेती स्वप्न में भी पति जिसे,
भिन्न उससे फिर जगत में और भज सकती किसे?

धन्य है तू आर्य्य-कन्ये! धन्य तेरा धर्म है,
देवि तू! स्वर्गीय है, स्वर्गीय तेरा कर्म है।
प्राण देना धर्म पर तेरे लिये क्या बात है!
कीर्ति भारत की तुझी से विश्व में विख्यात है॥

विज्ञ वाचक! आपने देखी कुटिलता काल की!
देखलो! क्या क्या दिखाती जवनिका जग-जाल की?
नित्य जीवन मार्ग में सर्वत्र कण्टक हैं पड़े,
विपद है प्रत्येक पद पर, विघ्न होते हैं बड़े॥

हाय! इस उद्वाह-मख की पूर्ण आहुति थी यही;
रह गया अब ध्यान ही, प्रत्यक्षता जाती रही।
देख कर संसार को आता यही मन में कभी—
जा रहें ईश्वर! कहीं हम त्याग कर इसको अभी॥

कर दिया प्रण तो उन्होंने क्रोध में ऐसा कड़ा,
किन्तु बूँदी-दुर्ग का था तोड़ना दुष्कर बड़ा।
इसलिए उनके शुभैषी सचिव चिन्ता में पड़े;
रह गये चित्रस्थ से वे चकित ज्यों के त्यों खड़े॥

सोच एक उपाय फिर वे निज विवेक विचार से,
विनय राना से लगे करने अनेक प्रकार से।
देख सकते हैं अशुभ क्या स्वामि का सेवक कभी?
हों न हों कृत-कार्य तो भी यत्न करते हैं सभी॥

"वीरवर्योचित हुआ यह प्रण यदपि श्रीमान् का;
काम है यह योग्य ही श्रीराम की सन्तान का।
वैर-शुद्ध किये विना वर वीर रह सकते नहीं,
स्वाभिमानी जन कभी अपमान सह सकते नहीं॥

"दुर्ग-बूँदी का यदपि हमको प्रथम है तोड़ना;
किन्तु कैसे हो सकेगा अन्न-जल का छोड़ना?
खान-पान विना किसीके प्राण रह सकते नहीं,
प्राण जाने पर भला प्रण पूर्ण हो सकता कहीं?

"प्रेरणा करती प्रकृति जिस कार्य्य के व्यपार में,
त्राण हो सकता नहीं उसके विना संसार में।
नित्य-कृत्य न छोड़ कर आज्ञा हमें दीजे अतः,
भृत्य ही हैं किसलिए जो श्रम करें स्वामी स्वतः॥

"इष्ट-सिद्धि कहाँ रही फिर जब न साधन ही रहा;
कार्य्य करना भूप का आदेश देना ही कहा!
हो गया पूरा उसी क्षण आपका यह प्रण नया,
कह दिया जो सज्जनों ने जान लो वह हो गया॥

"हो प्रथम प्रस्तुत हमें चलना यहाँ से दूर है,
पहुँच कर बूँदी पुनः करना समर भरपूर है।
तब कहीं मौका किले के तोड़ने का आयगा,
काम क्या तब तक भला भोजन विना चल जायगा?

"दिन लगेंगे क्या न कुछ भी इस कठिनतर काम में?
कौन जाने काल कितना नष्ट हो संग्राम में?
तोड़ने देंगे हमें क्या दुर्ग शत्रु विना लड़े?
देख सकता कौन अपना सर्वनाश खड़े खड़े?

"अस्तु, कृत्रिम दुर्ग तब तक तोड़ बूँदी का यहीं,
कीजिये निज नियम-रक्षा, छोड़िये भोजन नहीं।
देह-रक्षा योग्य है निज इष्ट-साधन के लिए,
है असम्भव कार्य सब तनु की विना रक्षा किये॥

"दुर्ग को जो तोड़ने का आपने प्रण है किया;
हो सकेगी क्या कभी तनु के विना उसकी क्रिया?
इसलिए तब तक उचित है नियम-पालन विधि यही,
तनु रहे, साधन सफल हो, विज्ञता बस है यही॥

"अन्न-जल के छोड़ने की आपकी सुन कर कथा,
तज न देंगे अन्न-जल क्या अन्य जन भी सर्वथा?
यह महान अनिष्ट होगा जानिए निश्चय इसे,
त्याग दें जो आप तो फिर ग्राह्य हो भोजन किसे?"

इस तरह समझा बुझा कर मन्त्रियों ने भूप को,
तोड़ना निश्चित किया उस दुर्ग के प्रति रूप को।
अस्तु बूँदी-दुर्ग कृत्रिम शीघ्र बनवाया गया,
मच गया चित्तौर में तब एक आन्दोलन नया॥

उस समय बूँदी-निवासी भृत्य राना का भला,
वीर हाड़ा कुम्भ था आखेट से आता चला।
साथियों के सहित जब आया वहाँ पर वह कृती,
देख उसको भी पड़ी उस दुर्ग की वह प्रतिकृती॥

तब कुतूहल-वश लगा वह पूछने कारण सही,
किन्तु उसके जानने पर पूर्व-सी न दशा रही।
हो गया गम्भीर मुख, सम्पूर्ण आतुरता गई,
भृकुटि-कुञ्चित भाल पर प्रकटी प्रभा तेजोमयी॥

वीर कुम्भ न सह सका यह मातृभूमि-तिरस्क्रिया,
क्षत्रियोचित धर्म ने उसको विमोहित कर दिया।
यदपि कृत्रिम; किन्तु वह भव-भूमि ही तो थी अहो!
स्वाभिमानी जन उसे फिर भूलता कैसे कहो?

त्याग पादत्राण रख मारे हुए मृग को वहीं,
सुध रही उस वीर को उस काल अपनी भी नहीं।
वन्दना उस दुर्ग की करने लगा अति भाव से,
शीश पर उसने वहाँ की रज चढ़ाई चाव से॥

शीघ्र रक्त-प्रवाह उसकी देह में होने लगा,
वीज विद्युद्वेग से वीरत्व का वोने लगा।
मातृभूमि-स्नेह-जल निश्चल हृदय धोने लगा,
मान मन को मत्त करके मृत्यु-भय खोने लगा॥

यदपि सर्व शरीर उसका जल रहा था त्वेष से,
किन्तु मौन न रह सका वह भक्ति के उन्मेष से।
उस समय उद्गार सहसा जो निकल उसके पड़े,
अर्थ-पूरित रत्न हैं वे शुचि सुवर्णों में जड़े।

"पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न-नीर समीर से ,
मैं समर्थ हुआ सभी विध रह विरोग शरीर से ।
यदपि कृत्रिम रूप में वह मातृभूमि समक्ष है ,
किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझको पक्ष है ?
"जन्मदात्री, धात्रि ! तुझसे उऋण अब होना मुझे ,
कौन मेरे प्राण रहते देख सकता है तुझे ?
मैं रहूँ चाहे जहाँ, हूँ किन्तु तेरा ही सदा ,
फिर भला कैसे न रक्खूँ ध्यान तेरा सर्वदा ?
"यदपि मेरा काल अब मेरे निकट आता चला ,
किन्तु जीने की अपेक्षा मान पर मरना भला ।
जब कि एक न एक दिन मरना सभीको है यहाँ ,
फिर मुझे अवसर मिलेगा आज के जैसा कहाँ ?"
जानुओं को टेक तब वह प्रेम अद्भुत में पगा ,
देव-सम उस दुर्ग की रक्षा वहीं करने लगा ।
देख कर उस काल उसको जान पड़ता था यही—
मूर्तिमान महत्व से मण्डित हुई मानों मही ॥
वध किया मृग पास रक्खे, धनुप धारे धीर ज्यों ,
दुर्ग के द्वारे सजग, शोभित हुआ वह वीर यों ।—
लौट कर आखेट से निज मान-मद में मोहता—
गिरि-गुहा-द्वारस्थ ज्यों निर्भय मृगाधिप सोहता ॥
वीर कुम्भ इसी तरह निश्चल वहाँ बैठा रहा ,
शुद्ध साधन सिद्धि की सम्प्राप्ति में पैठा रहा ।
तब प्रतिज्ञा पालने को शस्त्र लेकर हाथ में ,
आ गये राना वहाँ कुछ सैनिकों के साथ में ॥

देखते ही कुम्भ उनको, धनुष पर रख शर कड़ा,
सहचरों के सहित उठ कर हो गया रण को खड़ा।
उस समय उसकी रुचिरता देखने ही योग्य थी,
शील-युत हठ-पूर्ण थिरता देखने ही योग्य थी॥
दुर्ग के नाशार्थ ज्यों ज्यों वे निकट आने लगे,
भाव त्यों त्यों कुम्भ के अत्युग्रता पाने लगे।
क्रोध से उसके वदन पर स्वेद-जल वहने लगा,
पोंछ कर उसको अतः वह यों वचन कहने लगा—
"सावधान! यहाँ न आना, दूर ही रहना वहीं,
देखना, निज बाण मुझको छोड़ना न पड़े कहीं।
भृत्य होने से तुम्हारा मैं जताने को रहा,
अन्यथा कब का यहाँ पर दीखता शोणित बहा!
"प्राण बेचे हैं तुम्हें बेचा न मैंने मान है,
धर्म के सम्बन्ध में नृप और रङ्क समान है।
बन्धु भी अवलेहना करने तुम्हारी जो चले,
क्षोभ से तो क्या तुम्हारा उर न उस पर भी जले?
"स्वर्ग से भी श्रेष्ठ जननी जन्म-भूमि कही गई,
सेवनीया है सभीकी वह महा महिमामयी।
फिर अनादर क्या उसीका मैं खड़ा देखा करूँ?
भीरु हूँ क्या मैं अहो! जो मृत्यु से मन में डरूँ?
"तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मान के,
पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्ति को जड़ जान के?
भ्रान्त जन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञान से,
देखते भगवान को धीमान उसमें ध्यान से॥

"है न कुछ चित्तौर यह, बूँदी इसे अब मानिए,
मातृ - भूमि - पवित्र मेरी पूजनीया जानिए।
कौन मेरे देखते फिर नष्ट कर सकता इसे?
मृत्यु माता की जगत में सह्य हो सकती किसे?
"योग्य क्या सीसोदियों को इस तरह प्रण पालना?
है भला क्या सत्य का संहार यों कर डालना!
सरल इससे तो यही थी साध लेनी साधना,
तोड़ लेते चित्त ही में दुर्ग बूँदी का बना!
"अन्त में फिर मैं यही कहता तुम्हें प्रभु जान के,
लौट जाओ तुम यहाँ से बात मेरी मान के।
अन्यथा फिर मैं न जानूँ, दोष मत देना मुझे,
प्राण-नाशक बाण मेरे हैं विषम विष में बुझे॥"
यों वचन सुन कुम्भ के विस्मित हुए राना बड़े,
बढ़ सके आगे न सहसा रह गये रुक कर खड़े।
ग्लानि, लज्जा, क्रोध आदिक भाव बहु मन में जगे,
किन्तु वे इस भाँति फिर उत्तर उसे देने लगे—
"वीर कुम्भ! विचार ऊँचे हैं तुम्हारे सर्वथा,
किन्तु दोषारोप अब मुझ पर तुम्हारा है वृथा।
वीर बूँदी के स्वयं मौजूद हो जब तुम यहाँ,
तो कहो, प्रण पालना झूठा रहा मेरा कहाँ?"
क्रुद्ध हो तब कुम्भ ने शर से उन्हे उत्तर दिया,
किन्तु राना ने उसे झट ढाल पर ही ले लिया।
फिर वहाँ कुछ देर को पूरी लड़ाई मच गई,
वध किये उस वीर ने मरते हुए भी रिपु कई॥

उष्ण शोणित-धार से धरणी वहाँ की धो गई,
कुम्भ के इस कृत्य से कृतकृत्य बूँदी हो गई।
इस तरह उस वीर ने प्रस्थान सुरपुर को किया,
राजपूतों की धरा को कीर्ति धवलित कर दिया॥

कर भयङ्कर युद्ध उसके और साथी भी तभी,
वीर-गति को प्राप्त होकर स्वर्ग में पहुँचे सभी!
बस हुई इस भाँति पूरी यह मनोवेधक कथा,
हैं विचित्र चरित्र जग के नित्य नूतन सर्वथा॥
